योगसूत्र में प्रतिपादित पञ्चक्लेश के परिप्रेक्ष्य में मनस्तत्त्व की शारीरिक अवधारणा

(उपनिषदों तथा अष्टांगयोग के विशेष सन्दर्भ में)

मोहित आर्य
शोधच्छात्र, योग विभाग
हिमालयन गढवाल विश्वविद्यालय
पौडी-गढवाल

पातञ्जल योगसूत्र में वर्णित यौगिक नियमो तथा उपनियमों के द्वारा दुःखों का समूल शमन तो होता ही परन्तु समाधि की प्राप्ति भी होती है । भारतीय दार्शनिक परम्परा ने स्वविचारों के माध्यम से यह तो स्पष्ट किया ही है कि मनुष्य अथवा योगज्ञों की दृष्टि में दुःख हेय है परन्तु योगसूत्र अथवा योग के सन्दर्भित ग्रन्थों में समस्त दुखों के हेयत्व का प्रतिपादन नही किया गया है क्योकि व्यतीत हो चुका काल-खण्ड दुःख फल भोग के साथ स्वतः ही विनाश को प्राप्त हो जाते हैं । अद्यतन काल-खण्ड में उपभुक्त किये जाने वाले दुःखों के फल के भोग से रहित अथवा भोग के बिना त्याग सम्भव नहीं है तथा फलभोग के उपरान्त शीघ्रातिशीघ्र वर्तमानकालिक दुःख भी नष्ट हो जाते हैं । अतः योगसूत्रकार के अनुसार वर्तमानकालिन दुःखों का उच्छेद श्रेयस्कर नहीं है । प्रत्युत कर्म जनित संस्कार के कारणभूत जिनका व्यक्ति अथवा अन्य प्राणियों का विपाक शेष है ऐसे भावी दुःख ही त्याग के योग्य हैं । इसी अनागत दुःखों के त्याग के निमित्त यौगिक प्रवृत्ति अभिष्ट है इसी को **'हेय दुःखमनागत्म'** सूत्र के माध्यम

से स्पष्ट किया गया है । चेतन तथा अचेतन चित्त-तत्त्व का अविद्याजन्य साहचर्य ही दुःख का हेतु है । **"दृष्टा दृश्ययोः संयोगो हेय हेतुः"**

उक्त संयोग का हेतु अविद्या है । योगसूत्रकार कहता है कि - **"तस्य हेतुरविद्या"**[1] अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दुःख में सुख तथा अनात्मतत्त्व में आत्मतत्त्व का भाव ही अविद्या है । इस अविद्या को ही प्रथम क्लेश कहा जाता है । जब अविद्यारूपी प्रथम क्लेश के वशीभूत होकर पुरुषतत्त्व अचेतनत्व में आत्म-स्वरूप को भावित कर लेता है यह 'अस्मिता क्लेश' का स्वरूप है । महर्षि पतञ्जलि इसका उल्लेख हेय हेतु के रूप में करते है । अस्मिता के कारण अचेतनत्व में ममत्व की उत्पत्ति होने से भौतिक सुख-प्रदायक पदार्थो के प्रति मोह का उदय हो जाता है । इसी को पातञ्जल योगसूत्र में 'राग' कहा है । **'सुखानुशयी रागः'** अर्थात् सुखों के उपभोग के निमित्त चित्त-तत्त्व में निहित भोगेच्छा राग है तथा जिन पदार्थों अथवा साधनों से दुःखानुभुति हो उन पदार्थों के प्रति घृणा भाव ही 'द्वेष' है । **'दुखानुशयी द्वेषः'** अर्थात् जो घृणा की वासना दुःखानुभव के उपरान्त चित्त में विद्यमान रहती है उसको द्वेष कहते हैं । पूर्वजन्म से सम्बन्धोत काल-खण्ड में अनुभूति को प्राप्त मृत्यु के दुःख के संस्कार के कारणवश समस्त प्राणधारियों में आत्म-अध्यास के फल स्वरूप शरीर तथा विषय आदि से वियोग ना हो, इस प्रकार मृत्यु के भय के हेतुभूत जो संस्कार चित्त-तत्त्व में निहित हो जाते हैं उनको अभिनिवेश कहा जाता हैं ।

[1] पा०यो०सू० - 2/16, 2/17, 2/24

क्रियायोग के माध्यम से पञ्चक्लेशों को सूक्ष्म किया जाता है तथा अष्टांगयोग का पालन से विवेकख्याति को प्राप्त उसके द्वारा क्लेशों को नष्ट किया जा सकता है ।

इसी प्रकार निष्कर्षतः आत्यन्तिक दुःख निरोध-रूप कैवल्य ही हान है जैसे- **'तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्'** अर्थात् अविद्या के अभाव होने से संयोगाभाव ही हान कहलाता है वह चित्त की तात्विकी शक्ति का कैवल्य कहलाता है । व्यास जी द्वारा स्पष्टतया उल्लिखित है कि –"अदर्शन अविद्या के अभाव से बुद्धि और पुरुष के संग का अभाव ही दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति है । यही हान तथा दृष्टा का कैवल्य है, जो पुरुष का आश्रिभाव है अर्थात् इसके पश्चात् फिर कदापि गुणों से संयोग नहीं होता है । दुःख के कारण ही निवृत्त होने पर दुःख की निवृत्ति ही परम हान है तब पुरूष स्वरूप प्रतिष्ठित हो जाता है ।"[2]

यद्यपि योगसूत्रकार ने विवेकख्याति को ही हानोपाय रूप में वर्णित किया है[3] तथापि यह विवेकख्याति अष्टांगयोग के साधनों के माध्यमों के द्वारा अर्थात् हृदयांगम कर के ही अपनाई जा सकती है । योगसूत्रकार ने आरूरूक्षु युञ्जान तथा योगारूढ़ संज्ञा का प्रतिपादन कर के क्रमशः योग के उत्तम-मध्यम-अधम (मन्द) अधिकारियों के निमित्त योग के विविध

[2] पा०यो०सू० - 2/5, 2/6, 2/17, 2/8, 2/9, 2/25, 1/25

[3] पा०यो०सू० - 1/26

साधनों का विवेचन किया है ।[4] समाधि पाद में उत्तम अधिकारी के लिये अभ्यास तथा वैराग्यादि साधनों का वर्णन हैं । साधनपाद में मध्यम अधिकारियों के निमित्त क्रिया योग का वर्णन किया गया है तथा अष्टांगयोग के यम नियमादि का वर्णन मन्द अधिकारियों के लिये है ।[5] मन्द-अधिकारी जब अष्टांग योग को अपनाते है तो ही समाधि अवस्था तक पहुँचते है । इस हेतु योगसूत्रकार धारणा, ध्यान, समाधि की प्रप्ति हेतु ईश्वर विषयक वर्णन करते हुए लिखते है कि -"**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः**"[6] अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशयों से असम्बद्ध पुरुष ही ईश्वर है । यहाँ यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि पुरूष तो तत्त्वतः सदैव सुख, दुःख, भोगीत्यादि से पृथक् अथवा रहित है । अतः ईश्वर से पुरुष किस प्रकार भिन्न हो सकता है । स्वविद्वत्ता प्रदर्शन के माध्यम से इस शंका का परिहार करते हुए व्यास भाष्य उल्लिखित है कि –"यद्यपि सुख, दुःख मोहरूप सभी भोग बुद्धि के हैं । तथापि जिस प्रकार युद्धगत जय-पराजय का व्यपदेश राजा में किया जाता है । उसी प्रकार शुद्ध निर्गुण पुरूष में भी बुद्धिगत सुख, दुखादि क्लेश उपचरित किये जाते हैं परन्तु ईश्वर इस प्रकार के उपचार से भी रहित है । बुद्धि के संग से पृथक हुए पुरूष एवं प्रकृतिलीन पुरुष में क्लेशादि नहीं रहते। इस कारण मुक्तपुरूष एवं प्रकृतिलय अवस्था को प्राप्त पुरूष में ईश्वरत्व के घटित होने की आशंका नहीं करनी चाहिये

[4] योगसार संग्रह, द्वितिय अंश, पृ०-12

[5] पा०यो०सू० - 1/28 पर योगवार्तिक

[6] पा०यो०सू० - 1/24

क्योंकि मुक्त पुरूष क्लेशादि से युक्त होकर योगानुष्ठान द्वारा क्लेश बन्धन से मुक्त होकर मुक्तावस्था में अवस्थित हुए हैं। अतः यह स्पष्ट है कि वे सदैव मुक्त नहीं थे। प्रकृतिलयावस्था को प्राप्त हुए पुरुष यद्यपि क्लेशादि से संस्पृष्ट नहीं है तथापि कुछ काल के अनन्तर से उनमें क्लेशादि का संयोग

अवश्यम्भावी है परन्तु ईश्वर ने त्रैकालिक मुक्तता अपेक्षित है । अतः मुक्त पुरूष एवं प्रकृतिलीन पुरुष में ईश्वरत्व उत्पन्न नहीं हो सकता है ।[7] ईश्वर इच्छामात्र से ही समस्त संसार के उद्धार हेतु जगत के उद्भव एवं तिरोभाव में समर्थ है । श्रुतियों में अनेक स्थलों पर ईश्वर को सृष्टिकर्ता एवं संहर्ता कहा गया है ।"[8] (ये व्यास जी द्वारा प्रदत्त समाधान है ।)

प्रकृति एवं पुरूष का संयोग तथा वियोग अर्थात् पुरुष के भोग निःश्रेयसार्थ सृष्टि, उत्पत्ति तथा प्रलय ईश्वर की इच्छा के बिना संभव नहीं हो सकता । सृष्टि के रचनाकार्य में ईश्वर का स्वयं का कोई औचित्य (प्रयोजन) न होते हुए भी ईश्वरीयाध्यवसाय है कि कल्प-प्रलय तथा महाप्रलयों में समस्त प्राणियों का उद्धार करूँ ।[9] इस प्रकार प्राणियों का उद्धार करना ही ईश्वर का प्रयोजन है । यद्यपि ईश्वर विशुद्ध-सत्वप्रधान चित्त की तात्विकी सक्ति से युक्त है तथापि ईस्वर में प्रकृष्टैश्वर्य अनादि रूप से विद्यमान है । ईश्वरीय ज्ञान की पराकाष्ठा को अनुमान प्रमाण के माध्यम से सिद्ध करने के लिये महर्षि पतञ्जलि ने एक सूत्र प्रस्तुत किया - **"तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ**

[7] पा०यो०सू० - 1/24 पर व्यासभाष्य

[8] विष्णुपुराण - 1/2/29, पा०यो०सू० - 1/24 पर योगवार्तिक में उद्धृत - 6

[9] पा०यो०सू० - 1/24 पर भोजवृत्ति

बीजम्"[10] अर्थात् ईश्वर में सर्वज्ञता का बीज निरतिशय रूप में विद्यमान है । जैसे ज्ञान की पराकाष्ठा का आधार ईश्वर है, तथैव श्रुतियों से यह ज्ञान होता प्राप्त होता है कि समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यशश्री, ज्ञान, वैराग्य, विभूति आदि की पराकाष्ठा का आधार भी ईश्वर है । इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए योगसूत्र-भाष्यकार का कथन है कि ईश्वरीय स्वरूप का ज्ञान कराने पर भी अनुमान प्रमाण ईश्वर के विशेष स्वरूप की प्राप्ति में समर्थ नही है । ईश्वर के संज्ञादि को विशेषतया आगम प्रमाणादि से जाना जा सकता है ।

तत्त्ववैशारदी एवं योगवार्तिकार ने ईश्वर के स्वरूप की प्रतिपत्ति निमित्त विभिन्न श्रुतियों का उपन्यस्त किया है ।[11] ईश्वर कालातीत होने से सृष्ट्यादि में उत्पन्न गुरुओं का भी गुरू है । "**पूर्वेषामपि गुरूः कालेनानवच्छेदात्**"[12] श्वेताश्वतरोपनिषद् का ऋषि भी यही कहता है कि – "जिस ईश्वर ने सृष्टि के आदि में ब्रह्म को उत्पन्न किया और जिस 'ईश्वर' ने ब्रह्म के हृदय में वेग तथा ज्ञान का प्रकाश किया उस आत्मदेव की मैं मुमुक्षु शरण लेता हूँ ।

"**तस्य वाचकः प्रणवः**"[13] सूत्र में यह स्पष्टतया कहा गया है कि प्रणव शब्द ईश्वर का वाचक है । ईश्वर प्रणिधान को कैवल्यार्थ साधक साधन बनाकर ध्यान साधन को करता है । जिससे चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है । जिन चित्त वृत्तियों के निरोध से दृष्टा का स्वस्वरूप में

[10] पा०यो०सू० - 1/25

[11] वायुपुराण - 10/65, 66

[12] पा० यो०सू० - 1/26

[13] श्वेताश्वतरोपनिषद् - 6/18

अवस्थान हो ऐसा चित्त-वृत्ति निरोध यहाँ अपेक्षित है ऐसा माना गया है । इसीलिये महर्षि पतञ्जलि कहते है **"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"**[14] । इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वरूपावस्थिति में कारण-भुत चित्तवृत्तिनिरोध ही योग है । विज्ञानभिक्षु के द्वारा भी इन दोनों सूत्रों के समुच्चय का नाम योग है ऐसा माना गया है । विज्ञानभिक्षु के अनुसार "योग के लक्षण में स्वरूपावस्थिति के ग्रहण करने से व्युत्थाकालिक क्षिप्तादि भूमियों में होने वाले वृत्तिनिरोध में योग-लक्षण की अतिव्याप्ति का निरास हो जाता है ।"[15] अष्टांगयोग के माध्यम से द्रष्टा का स्व-स्वरूप में उपस्थित होने पर समाधि की सिद्धि होती है ।

अष्टांगयोग का मुख्य साधन है - धारणा और ध्यान । अद्यतन समय में बहुशः लोग आसन तथा प्राणायाम को ही योग का मुख्य अंग मानते हैं परन्तु योगदर्शन में जहाँ आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान आदि सम्बन्धित उल्लेख जिस भी स्थान पर किया गया है । उस स्थान पर यम, नियमादि के अवबोधनार्थ बहुशः सूत्रों का उल्लेख किया गया हैं । वस्तुतः योग का महत्व भी यम और नियमों के

कारण ही है । इनके अतिरिक्त आसन और प्राणायाम तो मात्र एक प्रकार का शारिरीक क्रिया अथवा व्यायाम है तथा धारणा और ध्यान व्यर्थ का आडम्बर है । ज्ञानी पुरुष की दृष्टि से समस्त योग साधनों का मूल तत्त्व यम-नियम ही है । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रहमचर्य, अपरिग्रह से

[14] पा० यो०सू० - 1/27

[15] पा० यो०सू० - 1/2 पर योगवार्तिक

बढ़कर मानवता के चिह्न क्या कभी हो सकते हैं? जिस भी साधक ने इसका भली प्रकार अभ्यास कर लिया उसके लिये योग-सिद्धि के सरल हो जाने में कुछ भी संदेह नहीं रहता है और जिसने इनको उपेक्षित मानकर योगाभ्यास किया वो कभी भी चरम लक्ष्य को प्राप्त नही कर सकते । वस्तुतः योगसूत्र में यम के रूप में मानवता के मौलिक कर्तव्य निहित हैं । जिन मौलिक कर्तव्यों के आधार पर सभ्य समाज की नींव स्थित है । योगसूत्रकार स्वयं ही इनकी प्रशंसा की है तथा इनके यथोचित पालन करने से विभिन्न दुर्लभ्य सिद्धियों की प्राप्ति संभव बतलायी है । यम नियमों के माध्यम से विश्वबंधुत्व की भावना विकास होता है ।[16] जब योगी योगाभ्यास के द्वारा संयमित हो जाता है तब मानवीय मेधा अलौकिक ज्ञान शक्ति से प्रकाशित हो जाती है तथा अनेक प्रकार की विभूतियों की सिद्धि प्राप्त होने लगती हैं अन्तिम काल-खण्ड में विवेक-ख्याति की प्राप्ति हो जाती है । इसी को महर्षि पतञ्जलि प्रथम पाद में ऋतम्भरा प्रज्ञा नाम से कहते है । जैसे-जैसे संयम दृढ़ होता है वैसे-वैसे ही समाधिरूपी प्रज्ञा और भी उज्जवल हो जाती है तथा विवेकख्याति की स्थिति प्राप्त कर लेती है ।[17]

योग के सन्दर्भित ग्रन्थों में मन के तीन पक्षों का उल्लेख मिलता है –

1. चेतन मन- स्थूल शरीर, जाग्रदवस्था तथा सत् विचार और स्थूल जगत का दर्शन ।

[16] पं० श्रीराम आचार्य, योगदर्शन, संस्कृति संस्थान, रव्जाकुतुब (वेदनगर) बरेली, 1996, पृ० - 22, 27

[17] पा०यो०सू० - 3/5

2. अवचेतन मन - सूक्ष्म शरीर, स्वप्नवस्था, स्मृति तथा संस्कार ।

3. अचेतन मन – कारणशरीर, सुषुप्त्यवस्था, ब्रह्माण्डगत समग्र संस्कार तथा स्मृति ।

मन के उक्त क्षेत्रों में मानवीय-प्रवृत्ति जन्य बौद्धिक, मानसिक तथा सहजबोधादि पक्ष निहित है । पातञ्जलयोग का प्रयोजन मन के विभिन्न (उक्त) पक्षों को अन्वेषण के माध्यम से जानना है । पातञ्जलयोग का लक्ष्य चेतन से अवचेतन और अवचेतन से अचेतन में गति करना अर्थात् पहुँचना है । योगसूत्र भाष्यकार व्यास जी ने अवचेतन तथा अचेतन मन को सात भागों में विभक्त किया है । यथा – दमित संस्कार, वंशानुगत संस्कार, पूर्व कृत गुप्त कृत्यों तथा गुप्त घटनाओं की गुप्त स्मृतियां, भौतिक देह तथा प्राणिक शरीर के प्रवृत्ति-जन्य कर्मों को नियंत्रित करने वाला विचार, प्राण, मन की स्वभाविक वृत्तियां तथा सिद्धियाँ ।

मनस्तत्त्व का यह विभाजन वैज्ञानिक विभाजन है जो निश्चय ही मानव को उसकी जटिलताओं पर विचार अथवा तर्क करने की प्रेरणा देता है । यह विबाजन मनस्तत्त्व की प्रकृति तथा उसकी व्यापकता वर्णन करता है । योगमार्ग के साधक को निरन्तर इनकी झलक दिखती रहती है । ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण गोपनीय तत्त्व तथा त्रिकालों में जितना भी ज्ञान

विद्यमान है या होगा उन सब पर स्थूलाभिव्यक्तियों की परते मन पर भरी पड़ती हैं ।[18]

महत्तत्त्व को ही सांख्य में चित्त संज्ञक कहा है । चित्ततत्त्व त्रिगुणात्मक तथा विभु है । सत्वगुण प्रधान हेतुभूतइसे चित्त सत्व भी कहा गया है क्योंकि इसमें रज एवं तम लिंग मात्र से अवस्थित रहते हैं । **"द्रष्टा दृश्योपरक्तं सर्वार्थ"**[19] इस सूत्र के माध्यम से यह स्पष्टतया उल्लिखित है कि चित्त का विभु होने से तथा ग्रह्म ग्रहण रूप सभी विषयों को अंगीकार करने में समर्थ होता है । अतः मनस्तत्त्व पुरूष के निमित्त विषयों का साक्षात्कार कराने वाले दर्पण के समान होता है । यह तमसावृत होने से हमेशा वस्तु के तात्त्विक रूप का प्रकाशन करने में समर्थ नही रहता है परन्तु राजसिकी तथा तामसिकी वृत्तियों के तिरोहित हो जाने पर मनस्तत्त्व में मात्र सात्विकी वृत्ति ही शेष रहती है । उस समय मनस्तत्त्व समस्त पदार्थों के यथार्थ-स्वरूप को प्रकाशित करता है । इस स्पष्टीकरण के निमित्त योगसारसंग्रह मे कहा गया है कि – "चित्त स्वतः ही सर्वार्थ ग्रहण करने में सक्षम तथा विभु है । तमोगुण से आवृत्त होने के कारण ही वह सर्वदा सब कुछ ग्रहण नहीं कर पाता । अतः तमोगुण - वर्धक तथा अन्य विषयों में संचरण की वासना रूप पाप आदि के निरोध संज्ञक योग द्वारा नष्ट

[18] स्वामी सत्यानन्द सरस्वती, मुक्ति के चार सोपान, श्री गोपी कृष्ण केजरीवाला, बिहार योग महाविद्यालय बिहार, 1994, पृ०- 14/15/16

[19] पा०यो०सू०- 4/23

होने पर चित्त द्वारा स्वयं ध्येय वस्तु का साक्षात्कार किया जाता है, ऐसा योग शास्त्र का सिद्धान्त है ।"[20]

स्वप्रादुर्भावावस्था में मनस्तत्त्व सत्त्वगुण प्रधानावस्था में रहता है परन्तु त्रिगुणात्मक होने से गुणों के परस्पर वैषम्य एवं विमर्दन के कारण अनेक वृत्तियों का रूप धारण कर लेता है ।"[21] यद्यपि योगसूत्रकार ने इन भूमियों अथवा अवस्थाओं के विषय में स्पष्टतया आख्यान नहीं किया है, और न ही व्यास जी ने किया है, व्यास जी ने नाममात्र उल्लेख किया है परन्तु भोजवृत्तिकार ने स्पष्टतया इसको उल्लिखित किया है, तथापि तत्त्ववैशारदीकार एवं योगवर्तिककार ने इन भूमियों का सम्यक्तया निरूपण किया है ।[22] ये अवस्था है - क्षिप्तावस्था - जिसमें रजोगुण प्रधान होता है, मूढावस्था - इसमे तमोगुण प्रधान होता है इस अवस्था में अज्ञान के विषय को अंगीकार करने वाली विपर्यय तथा अभाव-प्रत्ययालम्बना निद्रा वृत्ति की प्रधानता रहती है ।[23], विक्षिप्तावस्था - इसमे चित्त में सत्त्वगुण प्रधान होता है इसमे चित्त तत्त्वावस्था धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य का अनुगमन

[20] राजकुमारी पाण्डेय, भारतीय योग परम्परा के विविध आयाम, राधा पब्लिकेशन्स 4378/4 बी, अंसारी रोड़, दरियागंज, नई दिल्ली, 1993, पृ० 96 ।

[21] पा०यो०सू० - 1/2 पर तत्त्ववैशारदी

[22] पा०यो०सू० - 1/1 पर व्यासभाष्य

[23] पा०यो०सू० - 1/2 पर तत्ववैशारदी

करने वाली होती है ।[24] योगवार्तिककार के अनुसार उक्त चिदावस्था हिरण्यगर्भादिकों की होता है ।[25], एकाग्रावस्था - जिसको

ध्यानी साधक 'परम प्रसख्यांन' कहते है अर्थात् चित्त की परमोत्कर्षावस्था कहा हैं ।[26] निरूद्धावस्था – जिस अवस्था में विवेकख्याति का निरोध हो जाता, तब चित्त की उक्त अवस्था को निरूद्धावस्था कहा जाता है ।[27] इसी प्रकार मनस्तात्विकी पञ्च चित्तवृत्तियों का भी उल्लेख मिलता है - प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति ।[28]

मनस्तत्त्व की गत्यात्मक तथा दो प्रकार की स्थिरात्मक अवस्थायें होती है । ध्यान के द्वारा गत्यात्मक मनस्तात्विक्यवस्था को एक आलम्बन पर केन्द्रित किया जाना चाहिये । ध्यान से मन का समाधान सम्भव है । आसन मात्र शारीरिक क्रियाएं अथवा व्यायाम न होकर आध्यात्मिक विकास की ओर ले जाने वाला साधन है । वह शारीरिक तथा

[24] पा०यो०सू० - 1/2 पर भोजवृत्ति

[25] पा०यो०सू० - 1/2 पर योगवर्तिक

[26] पा०यो०सू० - 1/2 पर व्यासभाष्य

[27] पा०यो०सू० - 1/2 पर भोजवृत्ति

[28] पा०यो०सू० - 1/61

आध्यात्मिक दृष्टि से लाभदायक भी है । उसके शारीरिक और आध्यात्मिक दोनों ही प्रयोजन है । शरीर पर नियन्त्रित करने के लिये यम, नियम, आसन, तथा प्राणायामादि साधन सब जगह दिखलायी देते हैं । भारतीय दर्शन परम्परा में भिन्न-भिन्न प्रकार से शारीरिक नियत्रंण के निमित्त विभिन्न प्रकार के आसनों का वर्णन मिलता है । सांख्य दर्शन में देह को पञ्चभौतिक माना गया है । देहतत्त्व आत्मतत्त्व से भिन्न है । मोक्ष तत्वों से इसका सम्बन्ध देह के कारण नहीं रहता ।[29] उकक्त विचारों के सन्दर्भ में सांख्य दर्शन तथा योगदर्शन मे साम्यता दिग्दर्शित होती है । "प्रयत्न की शिथिलता से और अनन्त (परमात्मा) में मन लगाने से आसन सिद्ध होता है"[30] अर्थात् शरीर को गतिरहित अथवा शरीर का स्थिर बने रहना ही आसन है। "आसन सिद्ध हो जाने पर द्वन्द्वाघात नही होता । तप के प्रभाव के कारण जब अशुद्धि का नाश होता है तब शरीर तथा इन्द्रियों की सिद्धि होती है । तप के द्वारा ही शरीर, मन स्वच्छ होता है जिससे अन्तःकरण का समस्त मल बाहर निसृत हो जाता है । अतः द्वन्द्वों को धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिये इसी को तप कहा गया है। आसन सिद्ध होने के पश्चाद् प्राणायाम विषयक मत का प्रतिपादन किया गया है योगदर्शन का ऋषि कहता है कि - "उस आसन की सिद्धि होने पर श्वासप्रश्वास की गति का

[29] डा० रामनाथ शर्मा, भारतीय मनोविज्ञान, एटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स बी-2 विशाल एन्कलेव नई दिल्ली, पृ०- 95

[30] पा०यो०सू० - 2/47 पर योगवर्तिक

रूक जाना 'प्राणायाम' है ।"[31] प्राणायाम का प्रभाव विशेषतया मनस्तत्त्व पर पड़ता है । श्वास संयमन के द्वारा मनस्तत्त्व की एकाग्रता सरल हो जाती है । प्राणायाम उत्तम गुरु के निरिक्षण में करना चाहिए अन्यथा हानि भी हो सकती है ।[32] इस प्रकार ध्यान के अभ्यास को करते हुए चित्त को एक देश में स्थिर करते हुए[33] सम्पूर्ण अष्टांगयोग को अपना कर साधक मन तथा देह को अपने नियत्रंण में करते हुए चरम लक्ष्य "समाधि" को प्राप्त करता है ।

[31] पा०यो०सू० - 2/48, 2/43, 2/49

[32] डा० रामनाथ शर्मा, भारतीय मनोविज्ञान, एटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स बी-2 विशाल एन्कलेव नई दिल्ली, पृ०- 94

[33] पा०यो०सू० - 3/2, 3/1